

# राष्ट्रगुरु

लेखक

स्वामी गोविंददेव गिरि  
(आचार्य किशोर जी व्यास)

हिन्दी अनुवाद

डॉ. सच्चिदानंद परळीकर

धर्मश्री प्रकाशन, पुणे

---

## राष्ट्रगुरु

### प्रकाशक-मुद्रक

धर्मश्री प्रकाशन

‘धर्मश्री’, मानसर अपार्टमेंट्स

पुणे विद्यापीठ मार्ग,

पुणे ४११०१६.

### तृतीय हिन्दी संस्करण

(ऋषीपंचमी) १६ सप्टेंबर २००७

### मुखपृष्ठ

चित्रकार : श्री अनिल उपळेकर तथा

श्री गंधर्ववेद प्रकाशन के सौजन्य से

### मुद्रणस्थल

स्मिता प्रिंटर्स

१०१९ सदाशिव पेठ,

पुणे ४११०३०

मूल्य : १० रुपये

## अनुवादक का मंतव्य

पूज्यपाद स्वामी गोविंददेव गिरि ने मराठी में ‘राष्ट्रगुरु’ शीर्षक की एक पुस्तिका प्रकाशित की है। इसमें उन्होंने रामदास की संक्षिप्त जीवनी एवं कृतित्व का सारगर्भित परिचय करा दिया है। यह पुस्तक भले ही ४० पृष्ठों की ही क्यों न हो उसमें समर्थगुरु रामदास के हिमालय जैसे उत्तुंग व्यक्तित्व और आकाश जैसे व्यापक कार्य का जो संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है उसमें रामदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सभी मुख्य मुख्य पहलुओं का विवेचन किया गया है। हिंदी की एक प्रसिद्ध कहावत का सहारा लिया जाए तो पूज्यवर स्वामी गोविंददेव गिरि ने मानो गागर में सागर ही भर दिया है। उनकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं भावानुकूल है। इस छोटी-सी पुस्तिका के अनुवाद का काम एक प्रकार की चुनौती ही था। स्वामी जी ने मेरे बारे में जो विश्वास दिखाया उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। अब इतने बड़े महानुभाव की पुस्तक का अनुवाद करने में एक ओर प्रसन्नता थी तो दूसरी ओर मन पर दबाव भी था कि अनुवाद यदि सही नहीं उतरा तो पुस्तक की स्तरीयता में कमी आएगी। फिर भी मुझे इस बात पर प्रसन्नता है कि मैं स्वामी जी का विश्वासभाजन बन गया। उनकी प्रौढ़ परिमार्जित भाषा को हिंदी में रूपांतरित करते समय काफ़ी परिश्रम करने

पड़े। उनके बड़े बड़े (कहीं कहीं चार चार पंक्तियों के) वाक्यों को दो या तीन सरल वाक्यों में बदलना पड़ा। फिर भी अंत में जाकर मूल पुस्तक को न्याय देने में मैं सफल बन गया। इस कार्य में समर्थभक्त श्री सुनील जी चिंचोलकर ने भी मुझे बार बार प्रोत्साहित किया और मेरे बारे में विश्वास प्रकट किया कि मैं यह काम सफलतापूर्वक पूरा करूँगा। अतः मैं उक्त दोनों महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

श्रीराम, १८ क्षिप्रा सहनिवास, - डॉ. सच्चिदानंद परळीकर  
कर्णेनगर, पुणे ४११ ०५२  
दूरभाष : (०२०) २५४३ २३८६

॥ श्रीराम समर्थ ॥

### समर्थगुरु रामदास स्वामी

भारतीय संस्कृति का यथार्थ प्रातिनिधिक चित्र जिस ग्रंथ में देखने को मिलता है वह ग्रंथ है ग्रंथराज महाभारत। इस ग्रंथ में ऐसा एक प्रसंग है जिसके माध्यम से जीवन की कई महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान प्राप्त होता है। यह प्रसंग है युधिष्ठिर और यक्ष के बीच के संवाद का। यक्ष प्रश्न पर प्रश्न करता जाता है और युधिष्ठिर उन प्रश्नों के ऐसे मार्मिक उत्तर देते जाते हैं, जिनके माध्यम से जीवन की कई गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। यक्ष, धर्मराज युधिष्ठिर से, एक बिलकुल अनोखा प्रश्न करता है। 'धर्मराज का दिक्?' अर्थात् 'दिशा कौन-सी हो?' इस प्रश्न का तत्काल उत्तर देते हुए धर्मराज कहते हैं - 'सन्तो दिक्'

अर्थात् संतों की दिखाई हुई दिशा। यह उत्तर अत्यंत समीचीन एवं मननीय है। वास्तव में संत जो दिशा दिखाते हैं वही जीवन की सर्वोत्तम दिशा होती है। अनेकविध संतों के चरित्र तथा उनके वाङ्मय का, उपर्युक्त धर्मराज प्रणीत उत्तर के संदर्भ में, गंभीर अध्ययन करने के उपरांत यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाए कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तर पर सबको सार्वकालीन व्यवहार एवं परमार्थ की दृष्टि से अर्थात् दोनों स्तरों पर सफलता प्राप्त करने के लिए अमोघ दिशा कौन-

सी होनी चाहिए तो उसका निःसंदेह उत्तर यही होगा कि यह वही दिशा होगी जो समर्थगुरु रामदास ने अपने जीवन तथा साहित्य के माध्यम से समाज को दिखाई है। यही दिशा निःसंदेह अचूक दिशा समझी जाए।

इसमें दो राय नहीं हो सकती कि हमारी सांस्कृतिक परंपरा का मूल स्रोत अतिप्राचीन वैदिक साहित्य में ही प्राप्त होगा। बाद में कालप्रवाह के बीच वैदिक आचार-विचारों में से कुछ विचारों के विरोध में बौद्ध, जैन आदि प्रतिक्रियात्मक लहरों के सकारात्मक उपदेशों में भी काफ़ी बड़ी मात्रा में वैदिक विचारों एवं साधना-प्रणालियों का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। कई ग्रंथों के माध्यम से मूल वैदिक वाङ्मय का विस्तार सरल तथा लोकप्रचलित संस्कृत भाषा में किया गया है। इनमें रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। दर्शन ग्रंथों के आधार पर उपर्युक्त विचारों की तर्कपूर्ण व्याख्या की गई। वैदिक विचारों का प्रतिपादन कई मेधावी ऋषियों ने किया है। कई आचार्यों ने उक्त विचारों की व्याख्या तर्कपूर्ण प्रणाली से की है और उनका प्रचार करने में भी उन आचार्यों का योगदान महत्वपूर्ण रहा। मध्ययुग तक आते आते संस्कृत भाषा का प्रचलन धीमा पड़ गया और उसकी जगह पहले प्राकृत तथा बाद में लोकभाषाओं ने ली। संतों ने परंपरा से चले आए इन्हीं विचारों को लोकभाषा में मात्र व्यक्त ही नहीं किया प्रत्युत जनमानस पर उन्हें दृढ़ता से अंकित भी कर दिया।

## महाराष्ट्र की संतपरंपरा

महाराष्ट्र में मध्ययुगीन संतपरंपरा द्वारा विपुल मात्रा में निर्मित साहित्य रामायण, महाभारत, गीता एवं भागवत आदि प्राचीन ग्रंथों से प्रभावित है। इसका मतलब यही है कि उक्त संत साहित्य वैदिक विचारों का ही अनुसरण करने वाला है। संतसम्राट श्री ज्ञानेश्वर महाराज की वेदनिष्ठा उनके साहित्य के हर पृष्ठ पर दृग्गोचर होती है जो बिलकुल स्वाभाविक ही प्रतीत होती है। संतों ने ऐसे सरल तथा पावन भक्तिमार्ग का अनुसरण करने का उपदेश किया है जो घरगृहस्थी या दुनियादारी का विरोध न करते हुए उसके साथ समन्वय प्रस्थापित करने वाला मार्ग है। अपने उक्त समन्वयवादी विचारों के प्रतिपादन के लिए इन संतों ने लोकभाषा में ग्रंथरचना की है और उसके द्वारा मध्ययुगीन परचक्रों से उत्पन्न राष्ट्रीय आपदा के दिनों में समाज को अपने धर्म तथा संस्कृति की रक्षा करने के लिए प्रेरित किया। संतों ने अत्यंत प्रतिकूल परिस्थिति में भी समाज का मनोबल न केवल बनाए रखा, अपितु अपने समाज को मूल भारतीय संस्कृति से अलग भी नहीं होने दिया। उत्तर भारत के गोस्वामी तुलसीदास, गुरु नानकदेव, शंकरदेव, नरसी मेहता, चैतन्य महाप्रभु प्रभृति संतों ने भी ऐसा ही बहुमूल्य कार्य करते हुए भारतीय परंपरा को सुरक्षित रखा। उनके इन उपकारों को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में उस कालखंड में संतों ने लोकभाषा में ग्रंथनिर्मिति करते हुए

समाजप्रबोधन का महनीय कार्य किया है ।

एक ओर सभी संतों का कार्य प्रशंसनीय है तो भी महाराष्ट्र की संतपरंपरा का योगदान उसकी कतिपय विशेषताओं के कारण लक्षणीय है । महाराष्ट्र की भूमि में यद्यपि कई पारमार्थिक संप्रदाय प्रचलित हो गए तथापि महाराष्ट्रीय जनमानस पर भागवतधर्मीय वारकरी संप्रदाय का प्रभाव ही प्रकर्ष से परिलक्षित होता है । संतश्रेष्ठ श्री ज्ञानेश्वरजी के बाद भी कई सदियों तक कई अन्य अत्यंत श्रेष्ठ संत भी महाराष्ट्र की संतपरंपरा को संपन्न बनाते रहे । ये संत न केवल विविध छोटी बड़ी जातियों में ही पैदा हुए, अपितु पुरुषों ही के समान महिलाओं में भी उच्च कोटि के संत पैदा हो गए । यह विशाल एवं अखंड संत परंपरा महाराष्ट्र के जनसामान्य के मानस को, अपने सीधे, सरल भक्तिभाव एवं लोकप्रचलित मीठी मराठी भाषा में निर्मित पारमार्थिक साहित्य से, सदाचार के मार्ग पर सतत आगे बढ़ाती रही । वैदिक धर्म का पुनरुज्जीवन करने वाले जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन तथा गीता एवं श्रीमद्भागवत द्वारा प्रतिपादित भावपूर्ण भक्तिमार्ग के दो किनारों के बीच उक्त संतों की विचारधारा अबाधित रूप से प्रवाहित होती रही । भारत के अन्यान्य प्रांतों में भी अद्वैतमता-वलंबी महात्मा एवं संत पैदा हुए लेकिन भक्तिमार्ग तथा अद्वैतदर्शन में समन्वय प्रस्थापित करने वाले संत बहुतांश में महाराष्ट्र में ही पैदा हुए । बाहर के प्रांतों में ऐसा समन्वय प्रस्थापित करने वाले एकमात्र संत रहे गोस्वामी तुलसीदास किंतु उन्हें अपवाद स्वरूप ही समझना चाहिए । तुलसीदास जी

को भी उनकी योग्यता के अनुरूप परंपरा नहीं प्राप्त हो सकी । इसके विपरीत महाराष्ट्रभूमि का यह विलोभनीय सद्भाग्य है कि यहाँ उच्चस्तरीय संतों की अखंड परंपरा चलती रही ।

महाराष्ट्र की उक्त संतपरंपरा के कतिपय मुख्य मुख्य संतों की अपनी अपनी खास विशेषताएँ रहीं । इनमें से हर एक संत अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है, इतनी ये विशेषताएँ लक्षणीय हैं । भागवतधर्म की नींव रखने वाले संतसम्राट श्री ज्ञानेश्वर महाराज अपने प्रातिभ सामर्थ्य के कारण एकमेवाद्वितीय माने जाते हैं । उनके ग्रंथ का नाम है भावार्थदीपिका किंतु वह 'ज्ञानेश्वरी' इस छोटे लेकिन मीठे नाम से ही जाना जाता है । उक्त ग्रंथ के माध्यम से संत ज्ञानेश्वर ने मानो सोने की खदानें ही प्रकट की हैं और सचमुच अमृत से भी होड़ करने वाली मधुरतम भाषा के प्रयोग से ऐसी साहित्यालंकृत रसनिष्पत्ति की है कि न केवल मराठी भाषा में ही अपितु विश्व की अन्यान्य भाषाओं में भी यह ग्रंथ मुकुटमणि की तरह शोभायमान बन गया है । इस प्रकार की विलक्षण प्रतिभा अन्यत्र दुर्लभ ही होगी । संत श्री ज्ञानेश्वर के सन्मित्र और महाराष्ट्र के एक अन्य श्रेष्ठ संत नामदेव परमात्मा के एक लाइले भक्त थे और भागवतधर्म के प्रचार में उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन ही लगा दिया । यह उनकी असाधारण विशेषता मानी जाती है । लगभग सात सदियों से पहले पंजाब जैसे दूरस्थ प्रांत में जाकर वहाँ के गाँव गाँव में घूमते हुए लोगों के मन में परमार्थ तथा भगवद्भक्ति का बीजारोपण करने का काम नामदेवजी ने इतनी लगन तथा तन्मयता से पूरा

किया कि सिक्खों के पवित्र धर्मग्रंथ- 'गुरु ग्रंथसाहब' में नामदेव के करीब करीब चौसठ पद समाविष्ट किए गए हैं। पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान में खास संत नामदेव के ही नाम पर खड़े किए गए सौ से भी अधिक मंदिर हैं। वहाँ के भक्तजनों के मन में संत नामदेव के बारे में इतनी अपार श्रद्धा है कि उस श्रद्धा के सामने हम नतमस्तक हो जाते हैं। इतना श्रद्धाभरा स्थान समाज में प्राप्त करने के लिए संत नामदेव को कितने कष्ट झेलने पड़े होंगे इसका अनुमान लगाना एक कष्टसाध्य काम है। सफल घरगृहस्थी संत एकनाथ जी की खास विशेषता है। अन्य संतों के गार्हस्थ्यजीवन की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब यह विदित होता है कि कतिपय संत घरगृहस्थी से विमुख ही रहे तो अन्य कुछ संत ठीक तरह से अपनी घरगृहस्थी नहीं सम्हाल सके। इसके विपरीत संत एकनाथ के चरित्र की यह लक्षणीय विशेषता है कि उन्होंने एक ओर ज्ञान, कर्म, भक्ति तथा योग से अनुप्राणित संपूर्ण परमार्थ का आनंद प्राप्त किया तो दूसरी ओर समाज के सभी वर्गों के लिए उपयुक्त प्रचुर साहित्य का निर्माण भी किया और साथ ही साथ अपनी घरगृहस्थी भी सफलतापूर्वक चलाई। प्रपत्ति याने अंतरंग से उद्भूत शरणापन्नता संत तुकाराम का बलस्थान है। तुकारामजी के जीवन की ओर देखा जाए तो यही दिखाई देता है कि उनकी घरगृहस्थी लगभग उजड़ी हुई थी, उन्हें शास्त्राध्ययन का मौक़ा भी नहीं मिला था और हमारी वर्णव्यवस्था में ऐसा मौक़ा मिलना लगभग असंभव था। उनको उपदेश देने वाला कोई देहधारी गुरु भी नहीं था।

इन प्रतिकूलताओं के होते हुए भी उन्होंने परमात्मा से साक्षात्कार प्राप्त किया, अपनी अभंगवाणी से वेदार्थ का प्रतिपादन किया और इस अद्भुत कार्य के कारण भागवतधर्म के ज्ञानेश्वर द्वारा स्थापित, नामदेव द्वारा विस्तारित, एकनाथ द्वारा दृढीकृत, मंदिर का शिखर बनने का अनोखा भाग्य संतश्रेष्ठ तुकाराम को प्राप्त हुआ। यह गौरव वे इसलिए प्राप्त कर सके कि उनमें प्रपत्ति या शरणापन्नता तथा समर्पणभाव चरम सीमा तक पहुँचा हुआ था। श्री संत ज्ञानेश्वर की अद्भुत प्रतिभा, संत नामदेव की अखंड प्रचार-साधना, संत एकनाथ के सफल पारमार्थिक एवं लौकिक जीवन तथा संतश्रेष्ठ तुकाराम की प्रपत्ति को संत रामदास ने अपने प्रतिकार द्वारा दृढ बना दिया। समर्थ-गुरु रामदास ने उपर्युक्त संतों के विचारों को दृढ बनाने के लिए जो मार्ग अपनाया वह प्रतिकार का मार्ग था। प्रतिकार शब्द से यह भ्रम पैदा होगा कि क्या संत भी प्रतिकार का अवलंब कर सकते हैं। यदि वैसी ही भयानक परिस्थिति हो तो संत भी उसका मुकाबला करने के लिए प्रतिकार का भी अवलंब कर सकते हैं यह संत रामदास ने अपने उदाहरण से प्रमाणित किया। समर्थगुरु रामदास के उपदेशों की यह अद्भुत विशेषता रही कि उनके ज़माने में धर्म तथा संस्कृति पर जो पाशवी आक्रमण हो रहा था, जिसका वर्णन उन्होंने अपने 'अस्मानी-सुलतानी' नामक स्फुट काव्य में भी किया है, उसका मुकाबला कैसे करना चाहिए इसके संबंध में समर्थगुरु ने मौलिक मार्गदर्शन किया है। उन्होंने उसके लिए जो उपाय सुझाए हैं वे एक ओर वैयक्तिक स्तर पर अपनाए जा

सकते हैं तो दूसरी ओर सामाजिक स्तर पर जो प्रतिकार किया जा सकता है उसके संबंध में भी समर्थगुरु रामदास ने समुचित मार्गदर्शन किया है। इस प्रकार अत्याचारों के प्रतिकार का दोहरा मार्ग संत रामदास ने दिखाया है।

### रामदासकालीन देशस्थिति

श्री समर्थगुरु रामदास के ज़माने की हमारे देश की परिस्थिति का गहराई से अवलोकन किया जाए तो यह बात प्रकर्ष से ध्यान में आती है कि उस समय ऐसे महापुरुषों की समाज को नितांत आवश्यकता थी जो समाज में धैर्य तथा प्रतिकारशक्ति को जगा सकते हों। प्राचीन काल से प्राकृतिक संपन्नता का वरदान इस देश की भूमि को प्राप्त था जिसके कारण यह सुजला-सुफला बन गई थी। परिणामस्वरूप यह देश सभी प्रकार से समृद्ध एवं सुखी था। अन्य कई देशों की तुलना में यहाँ का समाजजीवन उच्च तथा शांत था। लेकिन सन ७१२ ई. में महंमद बिन क़ासीम ने इस देश पर जो पहली बार आक्रमण किया उसके परिणामस्वरूप देशांतर्गत स्थिति में पहले धीरे धीरे और बाद में तीव्र गति से आमूलाग्र परिवर्तन आ गया। इस संपन्न देश को लूटने के लिए आक्रमकों ने एक के बाद एक हमले शुरू किए। विदेशियों के इन आक्रमणों का उद्देश्य मात्र यहाँ की धनसंपदा लूटने तक ही सीमित नहीं था बल्कि वे इस देश के धर्म एवं संस्कृति को भी समूल नष्ट करना चाहते थे। अपने अपवित्र

हेतुओंके कार्यान्वित करने के उद्देश्य से उन्होंने यहाँ के अत्यंत पवित्र तथा भव्य मंदिरों को तहसनहस कर डाला तो कई मंदिरों को मसजिदों में बदल दिया। भगवान की पवित्र मूर्तियों की विडंबना करने के उद्देश्य से इन आक्रमणकारियों ने धातु की मूर्तियों को पिघलाकर उनका उपयोग मसजिदों की दीवारें खड़ी करने के लिए किया तो पाषाण मूर्तियों को मसजिद की सीढियाँ बनाने के काम में लगा दिया। हिंदू लोग जिस गोमाता को पूज्य मानकर उसकी पूजा तक करते थे ऐसी गोमाताओं को सरे बाजार कत्ल कर देने में ये आक्रमणकारी अपने को धन्य मानते थे। ये आक्रमणकारी न केवल प्रतिकार करने वालों ही को मौत के घाट उतार देते थे अपितु प्रतिकार न करने वालों को भी बेरहमी से कत्ल कर देते थे। नादिरशाह ने दिल्ली में कत्ले आम का जो कहर मचाया वह आक्रमणकारियों की क्रूरता का ज्वलंत उदाहरण माना जा सकता है। यहाँ की स्त्रियों को जबर्दस्ती मुसलमान बनाने, उनपर क्रूर अत्याचार करने और उनको भगाकर अपने कब्जे में कर लेने को ये आक्रमणकारी अपना अधिकार ही मानते थे। लोगों को सताकर, कष्ट पहुँचाकर उन्हें धर्मांतर करने के लिए विवश बनाने का उद्योग जोरों पर था। उत्तर में मुगल बादशाह कहर ढा रहे थे तो दक्षिण में फिरंगियों ने ऊधम मचाया था। बहामनी राज्य से अलग होकर जो पाँच पातशाहियाँ निर्मित हुई थीं वहाँ के मुसलमान शासक भी हिंदुओं पर अत्याचार करने में मुगल बादशाहों से जरा भी पीछे नहीं थे। वे अपने अपने राज्यों में मुगल बादशाहों

ही के समान हिंदुओं पर अत्याचार करते थे और हिंदुओं को सभी प्रकार से पीड़ा पहुँचाकर मुसलमान धर्म को स्वीकारने के लिए बाध्य करते थे। इसके पीछे यही मुख्य उद्देश्य था कि मुसलमानों की संख्या बढ़ती रहे। इस (अ) धर्मकार्य को लगातार चलाते रहने की कोशिश हेतुतः की जा रही थी। इन मुसलमान बादशाहों बादशाहा में आपस में भले ही लड़ाई-झगड़े होते रहे, फिर भी हिंदुओं को ये सभी अपना दुश्मन समझते थे और हिंदुओं को कष्ट तथा पीड़ा पहुँचाने में वे अपने को धन्य मानते थे। यही कारण था कि हिंदु समाज इन आक्रमणकारियों का शिकार बन गया था।

इसमें आश्चर्य की बात यह थी कि मुसलमान आक्रमणकारियों की संख्या बहुसंख्यक हिंदुओं की संख्या की तुलना में नगण्य ही थी। लेकिन बड़े खेद की बात यह है कि जातीयता, प्रादेशिक अभिमान, भाषाभेद, भिन्न भिन्न संप्रदायों तथा आपसी होड़ के कारण हिंदू समाज कई वर्गों में विभाजित हो गया था जिसके कारण वह आक्रमणकारियों का प्रतिकार करने में असमर्थ रहा। इतने भयानक, क्रूर, पाशवी आक्रमण का सामना करने का अभ्यस्त न होने के कारण यह समाज भयभीत एवं असहाय हो गया था। और तो और आपसी वैर, मत्सर, ईर्ष्या, क्षुद्र स्वार्थ और पराकाष्ठा तक पहुँची हुई आपसी फूट आदि कारणों से हिंदू समाज दुर्बल बन गया था जिसके कारण वह किंकर्तव्य-विमूढ एवं भयभीत हो गया था। इस विपरीत स्थिति से बाहर निकलने का कोई भी मार्ग हिंदुओं को नहीं दिखाई दे रहा था। कई हिंदू

राजाओं ने स्थानिक स्तर पर, जब उनपर बीत आई तब, मुसलमानों के आक्रमण का प्रतिकार भी किया और वह कुछ समय तक, अल्प मात्रा में, कहीं कहीं सफल भी रहा। फिर भी सर्व-समावेशक राष्ट्रीय दृष्टि के अभाव में, अन्य हिंदू राजाओं पर जब मुसलमान बादशाह आक्रमण करते रहे तब उनको सहायता पहुँचाने के लिए कोई भी अन्य हिंदू राजा शायद ही दौड़ पड़ा हो। इस परिस्थिति से लाभ उठाते हुए मुसलमान राजाओं ने एक एक हिंदू राजा पर अलग अलग आक्रमण करते हुए उनका खात्मा करने की नीति का अवलंब किया और इसमें वे सफल भी हो गए। इस प्रकार जिन हिंदू राजाओं को मुसलमान बादशाहों ने परास्त किया था उनको बड़ी कुशलता तथा क्रौर्य के साथ अन्य हिंदू राजाओं पर विजय पाने के काम में लगा दिया। मुसलमान बादशाहों की चाकरी करने वाले इसी भूमि के पुत्र, बादशाह के दरबार में सरदार बन गए, सैनिक बन गए और यहाँ के लोगों को मुसलमान शासकों के गुलाम बनाने के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी अपना खून बहाने तथा कभी कभी अपनी जान की भी बाज़ी लगाने में धन्यता अनुभव करते रहे। यही इस देश का भीषण दुर्भाग्य रहा। जो इस देश के, इस मातृभूमि के पुत्र रहे उन्हें वे केवल हिंदू हैं इसलिए ज़िज़िया कर अदा करने की अवहेलना कई पीढ़ियों तक सहनी पड़ी।

यह भी समझ में नहीं आ रहा था कि यह भयावह घनांधःकार कब समाप्त होगा। इतना ही नहीं तो यह भी भरोसा नहीं था कि यह अंधेरा कभी ना कभी मिट जाएगा। फिर भी भक्तिमार्ग पर



अग्रसर संतों के उपदेश के परिणामस्वरूप, यह सब कुछ चुपचाप सहने वाला सहिष्णु हिंदू समाज, बड़ी मात्रा में अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए स्वधर्मपालन में जुट गया था। ऐसी संभ्रमित अवस्था में फँसे हुए समाज को 'जय जय रघुवीर समर्थ' के मंत्र की गर्जना से जगाते हुए, प्रतिकार के लिए प्रेरित करने वाले, सहिष्णु समाज को जयिष्णु बनने की स्फूर्ति देने वाले, दुर्दांत शत्रु का सामना करने का मार्ग दिखाने वाले तथा समाज को विजयी बनने की नई दिशा दिखाने वाले महान राष्ट्रगुरु का नाम है समर्थगुरु रामदास।

### समर्थगुरु रामदास की जीवनी की रूपरेखा

आज के महाराष्ट्र के मराठवाड़ा भूभाग के जांब नामक एक देहात में सन १६०८ ई. में, चैत्र शुद्ध नवमी अर्थात् रामनवमी के पावन पर्व पर मध्याह्न में समर्थगुरु रामदास का जन्म हुआ। उनके पिता जी का नाम था सूर्याजीपंत ठोसर और माता जी का नाम राणूबाई था। संत रामदास का बचपन का नाम नारायण था और उनके बड़े भाई का नाम था गंगाधर। उनके पिता जी परंपरा से चली आई पटवारीगिरी (कुलकर्णीपद) सम्हालते थे। उनके कुल में कई पीढ़ियों से भगवान राम तथा सूर्यनारायण की आराधना की जाती थी और यह परंपरा अबाधित गति से सूर्याजीपंत तक चली आई थी। अपने कुल के उपर्युक्त परंपरागत संस्कार बालक नारायण ने भी स्वाभाविकतया आत्मसात् किए थे। नारायण दीखने में सुंदर तथा सुदृढ़ था। व्यायाम से उसने

अपना शरीर हृष्ट-पुष्ट बनाया था। वह जितना चपल था उतना ही ऊधमी भी था, फिर भी उसकी बुद्धि तेज थी।

नारायण के पिता का जब देहांत हुआ उस समय नारायण केवल आठ साल का था। मरने से पहले ही सूर्याजीपंत ने यवन अधिकारियों की किचकिच से व्यथित होकर अपनी परंपरागत पटवारीगिरी छोड़ दी थी। इस प्रकार परकीय शासकों की जुल्म-जबरदस्ती का ज्ञान नारायण को छोटी उम्र में ही हो गया था। आसपास की परिस्थिति को जानने के लिए जो खोजी वृत्ति होती है वह नारायण में जन्म से ही थी। यही कारण है कि अपने आसपास की, अत्याचारों से पीड़ित जनता के दुःखों को देखकर इस दूर दृष्टि रखने वाले युग-प्रवर्तक महात्मा ने बचपन में ही यह बात अपनी माँ से कही थी, 'मैं विश्व के कल्याण की चिंता करता हूँ।' समाज का दुःख दूर करने की चिंता बचपन से ही उनके मन में अंकुरित हुई थी। कहा भी जाता है कि होनहार बिरवाने के होत चीकने पात। नारायण ने मन ही मन यह निश्चय किया कि अपने आसपास के स्वकीय समाज का यदि वास्तव में परित्राण करने का व्रत अपनाया हो तो विवाहादि लौकिक बंधनों में नहीं उलझना चाहिए। अपने अंगीकृत कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए परमात्मा की कृपा की नितांत आवश्यकता है। यही भाव मन में धारण करके नारायण विवाह के समय 'सावधान' शब्द सुनकर विवाह मंडप से भाग निकला और प्रभु रामचंद्र के वास्तव्य से पुनीत नाशिकक्षेत्र में जाकर उसने प्रभु रामचंद्र के दर्शन किए। मन ही मन उनकी कृपा की

याचना की और वह कृपा प्राप्त करने के लिए नाशिक के पास टाकळी देहात में गोदावरी तथा नंदिनी नदियों की संगमस्थली में अपना पुरश्चरण प्रारंभ किया। यह परिसर अत्यंत शांत था। वहीं एक गुफा में रामदास ने अपना डेरा डाला। समर्थगुरु ने अपने दासबोध ग्रंथ में भक्ति का निरूपण करते हुए कहा है -

“देवाच्या सख्यत्वासाठी ।

पडाव्या जिवलगांच्या तुटी ॥

सर्व अर्पावे शेवटी । प्राण तोही वेचावा ॥

(अर्थात् परमेश्वर से भक्ति जोड़ने के लिए अपने आप्त-स्वजनों से भी नाता तोड़ देना चाहिए। परमात्मा को अपना सर्वस्व अर्पण करना चाहिए। इतना ही नहीं तो वैसा समय आने पर परमात्मा के (कार्य) लिए अपने प्राणों का भी त्याग करना चाहिए।) इसी निश्चय के साथ वे अपना जीवनक्रम निर्धारित कर रहे थे।

‘टाकळी’ में रामदास बारह साल रहे। यह बारह वर्षों का तपस्या तथा साधना का काल उनके भविष्यत के कार्य की दृष्टि से नींव का पत्थर बन गया। वे मुँह अंधेरे जाग उठते थे, नित्यक्रिया से निवृत्त होकर स्नानसंध्या एवं सूर्यनमस्कारों का उपक्रम पूरा करके गोदावरी की संगमस्थली में खड़े होकर पुरश्चरण शुरू करते थे। सूर्योदय तक वे गायत्री मंत्र का जप करते थे और उसके बाद ‘श्रीराम जय राम जय जय राम’ के त्रयोदशाक्षरी मंत्र के जप से पुरश्चरण करते थे। इसके बाद

मध्याह्न के समय पुरश्चरण को समाप्त कर माधुकरी भिक्षा माँगकर एक ही बार भोजन करते थे। अपराह्न में विविध ग्रंथों का अध्ययन करते थे और कभी कभी कथा-कीर्तन का श्रवण भी करते थे। नाशिक के पंडितों के मार्गदर्शन में उन्होंने संस्कृत भाषा तथा संस्कृत ग्रंथों का ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार किसी समय अत्यंत शरारती एवं नटखट कहलाने वाला यह नारायण नामक बालक अपना शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास करने में लग गया। उसका यह अनुशासनबद्ध जीवनक्रम इतना स्पृहणीय रहा कि कोई भी विद्यार्थी इसका अनुकरण करते हुए अपना सर्वांगीण विकास कर सकेगा। अपने आराध्य श्री हनुमान ही के समान नारायण श्रीराम की सेवा के लिए पूर्णतया तैयार हो गया। उसकी अनन्य रामभक्ति से प्रभावित होकर लोग उसे रामदास के नाम से पुकारने लगे और स्वयं नारायण ने भी ‘रामदास’ नाम सहर्ष स्वीकार किया। इसके बाद अंत तक वे रामदास के नाम से ही विख्यात हो गए।

पुरश्चरण के बारह साल समाप्त हुए और रामदास के जीवन का यात्रापर्व शुरू हुआ। आगे के बारह साल उन्होंने संपूर्ण भारत की तीर्थयात्रा में बिताए। इस भारतमाता के सभी भूभागों में अनगिनत यात्राक्षेत्र कोने कोने में बिखर पड़े हैं। आध्यात्मिक साधक उक्त तीर्थक्षेत्रों के दर्शनार्थ वहाँ इसलिए पहुँच जाते हैं कि इस प्रकार के दर्शन उनकी आध्यात्मिक उन्नति में पोषक बन जाते हैं। इस प्रकार की तीर्थयात्रा कम अधिक मात्रा में प्रायः सभी प्रकार के साधक करते ही हैं। संत रामदास ने यह देशयात्रा

दोहरे उद्देश्य से की। एक तो अन्य साधकों के समान धार्मिक दृष्टि से उन्होंने यह यात्रा पूरी की किंतु उनका मुख्य उद्देश्य था देश की दीनहीन अवस्था का अवलोकन करना। यात्रा पैदल थी इसलिए समाजजीवन को अत्यंत नज़दीक से देखने का अवसर उन्हें मिला और उन्होंने अपने आगामी कार्य की दृष्टि से समाजस्थिति का अत्यंत बारीकी से सोद्देश्य अवलोकन किया जिससे उनके जीवितकार्य की दिशा स्पष्ट होती गई। क्रूर परकीय आक्रमणकारियों के अत्याचारों से समाज भयभीत एवं संतप्त था। यवन शासकों का सात सूत्री कार्यक्रम अत्यंत निर्दयता से अमल में लाया जा रहा था। मंदिरों को ध्वस्त करना, देवमूर्तियों का भंजन, सामान्य प्रजाजनों के धन को लूटना, गायों की हत्या, स्त्रियों का अपहरण, ज़बरदस्ती से धर्मांतर और हिंदुओं को काफ़ीर कहकर उनको कत्ल करने का पाशवी जुल्म, ऐसे सात सूत्र थे जिनपर मुसलमान बादशाह बेरहमी से अमल करते थे। परिणामस्वरूप देश भर में किसी भी व्यक्ति को अपनी धनदौलत, घरबार, कुटुंबक्रबिला आदि की सुरक्षितता का भरोसा नहीं था। फिर वह अपनी जान की रक्षा का भरोसा भी कैसे कर सकता? देश भर में घूमते घूमते रामदास को देश की स्थिति का जो आकलन हुआ उसका वर्णन उन्होंने एक ही वाक्य में किया है - 'सकळ पृथ्वी आंदोळली। धर्म गेला।' (सारा देश दोलायमान (अस्थिर) हो रहा है और धर्म नष्ट हो गया है।)

हिंदू समाज कर्मकांडात्मक धर्म का आचरण श्रद्धापूर्वक

निभा रहा था। समाज उपासना, तीर्थयात्रा, देवदर्शन, व्रतत्योहार आदि को चरितार्थ करने में लगा हुआ था। फिर भी वह भयभीत था। मथुरा के एक उत्सव में इनेगिने यवन घुस गए और वहाँ से वे हिंदुओं की चुनी हुई सुंदर युवतियों को उठाकर अपने साथ ले गए और हज़ारों हिंदू अवाक् होकर अपनी आँखों के सामने किया गया यह अत्याचार चुपचाप देखते रहे, फिर भी उनमें से एक भी ऐसा माई का लाल नहीं निकला जिसने इस अत्याचार का विरोध करने का साहस दिखाया हो। इस घटना का रामदास के मन पर क्या असर पड़ा होगा? उनके मन में यह विचार आया कि यह हिंदू समाज संख्या की दृष्टि से यवनों से कई गुना अधिक है, संपन्न है, परिश्रम करने वाला है, बुद्धिमान है और शूर भी है। फिर इतना विशाल समाज आक्रमणकारियों का प्रतिकार क्यों नहीं करता? वह अपने आपको दुर्बल क्यों समझता है? रामदास ने इस परिस्थिति का न केवल अवलोकन ही किया, अपितु समाज की मानसिकता का विश्लेषण भी किया। परिणामस्वरूप वे इस निष्कर्ष तक पहुँच गए कि इस (हिंदू) समाज के पास सब कुछ है, फिर भी यह समाज आत्मकेंद्रित बन गया है, जिसके कारण वह दूसरों की अपेक्षा अपना स्वार्थ ही देखता है। समाज की इस स्वार्थपरता के कारण वह एक मज़बूत संगठन खड़ा करने में सफल नहीं हो सका। संगठन के अभाव में समाज अत्याचारों का प्रतिकार करने के लिए आवश्यक शक्ति नहीं जुटा सका। शक्ति के अभाव में समाज में साहस की भी कमी रही। प्रतिकार के लिए साहस की आवश्यकता होती

है। साहस के बिना यह समाज प्रतिकार नहीं कर सका और प्रतिकार के अभाव में चुपचाप अत्याचार सहने के सिवा उसके सामने अन्य कोई रास्ता ही नहीं रहा। अविरत प्रयत्न करने वाले समर्थगुरु रामदास ने इस भीषण अंधकारमय परिस्थिति पर विजय पाने का उपाय खोज निकाला और वह है प्रभु रामचंद्र की खुले मन से की जाने वाली उपासना।

खुले मन से की जाने वाली उपासना से अभिप्राय यह कि परब्रह्म-स्वरूप भगवान श्री रामचंद्र की, आध्यात्मिक उन्नति के लिए की जाने वाली सश्रद्ध उपासना तो रामदास को अभिप्रेत थी ही, फिर भी इससे भी एक क़दम आगे बढ़कर चारों ओर फैले हुए पाशवी अत्याचारों से पीड़ित समाज का अपने अद्भुत पराक्रम से उद्धार करने वाले, दुष्टों का निःशेष निःपात करते हुए सज्जनों का परित्राण करने वाले धर्मसंस्थापक प्रभु रामचंद्र के अद्भुत पराक्रम तथा अलौकिक सामर्थ्य के आदर्श का भी वे समाजमानस में गहराई तक बीजारोपण करना चाहते थे। रामदास को यह पूरा भरोसा था कि देवों को भी (रावण के) बंदीगृह से मुक्त कर देने वाले श्रीराम की स्फूर्तिदायक कथा ही समाज के मृतवत् अंतःकरण को विजयाकांक्षा के लिए प्रेरित करने वाली संजीवनी बूटी सिद्ध होगी। यही कारण है कि जब उन्होंने कृष्णा नदी की उपत्यका में स्थित चाफळ नामक ग्राम में श्रीराम की मूर्ति स्थापित की और बड़े पैमाने पर राजा राम का उत्सव संपन्न करके अपने कार्य का शुभारंभ किया, तब उनके मुँह से यह उद्गार निकल पड़े - 'रक्षिता देव देवांचा। त्याचा उत्साव मांडिला।' (अर्थात् देवों के

भी रक्षणकर्ता देवता अर्थात् श्रीराम का उत्सव मैंने शुरू किया है।') सच कहा जाए तो रामदास ने प्रभु रामचंद्र को ही 'समर्थ' कहा है। उनकी सांप्रदायिक घोषणा में ही 'जय जय रघुवीर समर्थ' का नारा लगाया गया है। रामदास के मुख से यह नारा लगातार सुनते सुनते प्रभु रामचंद्र का 'समर्थ' विशेषण लोगों ने खुद रामदास के नाम के पीछे लगा दिया और वे समर्थ रामदास के नाम से विख्यात हुए। आज तक उनकी यही उपाधि समाज में प्रचलित है। रामदास द्वारा प्रवर्तित समर्थ संप्रदाय (या रामदासी संप्रदाय) मूलतः श्रीरामोपासना संप्रदाय ही है। अपने परिवार या कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए तथा समाज के उद्धार के लिए व्यक्तिगत जीवन के सुखों का सहजता से त्याग करने वाले प्रभु रामचंद्र तथा उनके दुष्टसंहार तथा साधुपरित्राण के धर्म-संस्थापना के प्रमुख अंगों को पूरा करने के लिए सदैव आगे रहने वाले बल - बुद्धि - शील - पराक्रमसंपन्न पवनसुत हनुमान के आदर्श रामदास ने समाज के सामने रखे। ये दोनों रामदास द्वारा समाज को दिए गए मात्र आराध्य देवता ही नहीं हैं, प्रत्युत समाज के सर्वांगीण विकास के लिए जनसमुदाय के सम्मुख प्रस्तुत महान आदर्श भी हैं।

उक्त आराध्य दैवतों के माध्यम से रामदास समाज को धर्मनिष्ठा, निःस्वार्थ वृत्ति, सच्चरित्रता, बलोपासना, समाज-संगठन, शौर्य, धैर्य, चातुर्य, परोपकार, ईश्वरभक्ति आदि सद्गुणों की शिक्षा देना चाहते थे, समाज में उक्त गुणों का संवर्धन करना चाहते थे। इसके लिए कई प्रकार का कार्य हाथ में लेने की

आवश्यकता थी जैसे, प्रभु रामचंद्र तथा हनुमान के मंदिरों की स्थापना, मठों का निर्माण, शिष्यों तथा सज्जनों का संगठन, इस संगठन के माध्यम से महंतों का चयन, महंतों के व्यक्तित्व का विकास और उक्त सभी कार्यों को मूर्त रूप देने के लिए आवश्यक ग्रंथसंपदा की निर्मिति। रामदास ने अत्यंत परिश्रमपूर्वक और बिना विश्राम लिए उपर्युक्त सभी कार्य अधिकाधिक लोगों की सहायता लेते हुए पूरे किए। ये सभी कार्य इतनी लगन एवं निष्ठा से उन्होंने पूरे किए कि अपने जीवनकाल में ही वे 'आनंदवनभुवन' का अपना स्वप्न पूरा कर सके। (रामदास ने स्वराज्य को सुराज्य में रूपांतरित करने का जो स्वप्न देखा था उसका नाम उन्होंने 'आनंदवनभुवन' रखा था।) अखंड कार्य की धूम तथा निरंतर के परिश्रमों के कारण उनका शरीर थक चुका था। अपने जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाले इस शरीर को उन्होंने अपने जीवन के ७४ वें वर्ष में सज्जनगढ़ पर प्रभु रामचंद्र के चरणों पर सदा के लिए अर्पित कर दिया। वह दिन था माघ वद्य नवमी, सन १६८२ ई.। एक अत्यंत प्रज्वलित जीवनयज्ञ की वह पूर्णाहुति थी।

### समर्थगुरु रामदास का महनीय कार्य

यदि हम समर्थगुरु रामदास के ७४ वर्षों के जीवनचरित की ओर सरासरी निगाह से दृष्टिपात करें तो एक अत्यंत कर्तृत्वसंपन्न महापुरुष के हिमालय जैसे भव्यदिव्य व्यक्तित्व के दर्शन हो जाते हैं। सामान्यतः देखा जाए तो विदित होगा कि संत प्रायः

परमेश्वर से साक्षात्कार करने की साधना में ही जुटे रहते हैं और उसके उपरांत जहाँ तक बन सके वे जनसामान्य को पारमार्थिक मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हुए उनका मार्गदर्शन करते हैं और उक्त दोनों कार्य चरितार्थ करने के लिए आवश्यक भक्तिप्रधान तथा आध्यात्मिक साहित्य की निर्मिति करते हुए भी दिखाई देते हैं। यह सब संत रामदास के जीवन में भी पूरी तरह घटित हुआ है। उन्होंने जो साक्षात्कारपर्यवसायी साधना की वह अत्यंत अनुशासनबद्ध तथा सुनियोजित रही। उनके साहित्य से एक बात प्रकर्ष से प्रमाणित होती है कि उनका किया हुआ पारमार्थिक उपदेश, उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारों और उनकी साक्षात् साधना, दोनों दृष्टियों से सुवर्ण के समान खरा है। उनका उपदेश किसी भी प्रकार की कसौटी पर खरा ही उतरेगा इसमें कोई संदेह नहीं है।

निर्भय, विजिगीषु, सदाचारी, सुसंगठित एवं सामर्थ्यसंपन्न समाज का निर्माण करना रामदास के सभी प्रकार के प्रयासों का लक्ष्य था और ऐसा दिखाई देता है कि उक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिन प्रयत्नों की पराकाष्ठा आवश्यक थी वे सभी आवश्यक प्रयत्न यथासंभव करने में उन्होंने कोई कोरकसर बाकी नहीं रखी। ऐसा दीखने में आता है कि उन्होंने मूलतः अपने चिंतन, प्रकृति तथा लोक-व्यवहार की भूमिका जागरूकता से तथा अपने ध्येय की पूर्ति करने की दृष्टि से अनुकूल बनाई रखी थी। उनके विचार, उच्चार तथा आचार में कहीं भी असंगति नहीं दिखाई देती। उनके व्यक्तित्व की उक्त विशेषता को देखने पर यह विश्वास मन में पैदा हो जाता

है कि वे समाजप्रबोधन के अपने अंगीकृत कार्य में अवश्य सफल हुए होंगे और सचमुच वे सफल भी हुए । फिर भी मात्र व्यक्तिगत सदाचरण तथा समाजप्रबोधन के कार्य तक ही उन्होंने अपने आपको सीमित नहीं रखा । ‘क्रियेवीण वाचाळता व्यर्थ आहे’ (बिना प्रत्यक्ष क्रिया किए, मात्र गाल बजाना निरर्थक है ।) का उपदेश आग्रहपूर्वक करने वाला यह विरक्त महात्मा पराकाष्ठा का क्रियाशील भक्त था । उनकी क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप श्रीराम के कई मंदिरों, गाँव गाँव में हनुमान के मंदिरों, भारत भर के सभी प्रांतों में करीब करीब ११०० मठों की निर्मिति हो गई । रामदास द्वारा स्थापित मठों की संख्या अतिशयोक्त लगने की संभावना है फिर भी कमोबेश फ़र्क से उसे ८०० तक सीमित करने पर भी यह संख्या विस्मयकारक लगती है ।

रामदास द्वारा स्थापित उक्त मठ मात्र पूजापाठ तथा जपतप करने के स्थान नहीं थे । एक प्रकार से वे तेजस्वी संस्कारकेंद्र ही थे । सनातन धर्म के ज्ञानदान, सदाचार एवं भक्ति के संस्कारों आदि की शिक्षा तो वहाँ दी ही जाती थी, साथ ही प्रत्येक मठ में व्यायामशाला, हनुमान का मंदिर तथा ग्रंथसंग्रह भी अनिवार्य रूप से हुआ करता था जो पुरुषार्थ एवं बलोपासना की प्रेरणा देते थे । परंपरागत तेजस्वी भिक्षा-पद्धति के माध्यम से रामदास ने इन मठों को स्वावलंबी तथा समाजाभिमुख बनाया था । प्रत्येक मठ में एक महंत की नियुक्ति की जाती थी और रामदास को यह अभिप्रेत था कि इन मठों की व्यवस्था की देखभाल करने वाले महंत या मठाधिपति त्यागी हों, भले ही वे गार्हस्थ्य जीवन जीने वाले ही क्यों न हों, और वे जनजीवन

में सांस्कृतिक प्रवाह प्रवाहित करने वाले लोकशिक्षक भी हों । इन मठों में एक परस्पर संपर्कशृंखला भी थी जिसका लाभ आग्रा से औरंगज़ेब की क़ैद से भाग निकलने पर राजा छत्रपति शिवाजी तथा उनके पुत्र संभाजी को मिला और वे रायगढ़ पर सुरक्षित पहुँच सके । इतना ही नहीं तो इन मठों से किसी भी समय स्वराज्य स्थापना के लिए आवश्यक एवं अनुकूल सहायता प्राप्त होती रही । स्वराज्य के लिए अनुकूल एवं पोषक जनमानस तैयार करने में समर्थकार्य तथा उनके मठों, मंदिरों एवं महंतों का बड़ा भारी योगदान रहा । भक्तिप्रधान अध्यात्मोपदेश के द्वारा सहिष्णु बने हुए समाज के अंतःकरण में जयिष्णुता के स्फुल्लिंग प्रज्वलित करने तथा उन्हें धगधगाते रखने के कार्य द्वारा प्रचुर मात्रा में समाज का मानसिक परिवर्तन करने का महत्त्वपूर्ण तथा कठिन उपक्रम रामदास ने चलाया और उसमें वे सफल भी हुए । इससे लोगों में विजय की आकांक्षा जाग उठी, आशा पल्लवित हुई और स्वराज्य का उषःकाल दृष्टिपथ में आ गया । इसके लिए समाज की मानसिकता तैयार करने के काम में रामदास दिनरात जुटे रहे और उनके प्रयत्नों से समाज में अनुकूल परिवर्तन भी आ गया ।

## शिवसमर्थ योग

रामदास जी का यह अहोभाग्य रहा कि इसी कालखंड में उन्होंने जिस प्रकार के आदर्श राजा की कल्पना की थी उस प्रकार का प्रभु रामचंद्र का वीरतासंपन्न, धर्मनिष्ठ जीवनादर्श अपने जीवन में उतारने वाले श्री छत्रपति शिवाजी महाराज जैसे

राजा ने स्वराज्य स्थापना के महत् कार्य में स्वयं प्रेरणा से अपने आपको पूरी तरह लगा दिया था। महाराष्ट्र की पावन भूमि पर एक ही समय कार्यरत रहने वाले इन दो महापुरुषों की प्रेरणाएँ स्वयंभू, फिर भी, एक दूसरे के लिए पूरक थीं। दो समानांतर रेषाओं की तरह भिन्न भिन्न क्षेत्रों में फिर भी एक ही दिशा में, एक ही ध्येय की प्राप्ति के लिए दोनों अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार कार्य कर रहे थे। श्री समर्थगुरु रामदास और श्री शिवछत्रपति राजा के बीच का गुरु-शिष्य संबंध केवल पारमार्थिक उपासना तथा मंत्रदीक्षा एवं अनुग्रह तक ही सीमित नहीं था तो इससे भी आगे दोनों में घनिष्ठ संबंध थे। दोनों की अखंड कर्म करने की प्रयत्नवादी प्रवृत्ति, दोनों की व्यक्तिगत सुख के प्रति उदासीनता, दोनों की धर्मरक्षा के ध्येयसंबंधी एकरूपता, दोनों की कार्य को सफल बनाने के लिए अपनाई गई सावधानता, अनुशासन-प्रियता, दोनों के एक दूसरे के प्रति पराकाष्ठा का आदरभाव एवं एक दूसरे के बारे में विश्वास आदि पर यदि समग्रता से विचार किया जाए तो ऐसा दिखाई देता है कि मानो एक ही चेतना दो विभिन्न शरीरों के माध्यम से परस्परपूरक कार्यों में मग्न रही हो। सच कहा जाए तो गुरु-शिष्य का दृढ संबंध इसी प्रकार का होता है। पारमार्थिक संतमहात्माओं के दर्शन करने के लिए उनको श्रद्धापूर्वक वंदन करके उनका आशीर्वाद प्राप्त करना एक बात है और दोनों के जीवनविषयक दृष्टिकोण में इतनी एकरूपता, इतनी एकप्राणता प्रतीत होना एक अलग ही बात है। श्री छत्रपति शिवाजी का श्री समर्थगुरु रामदास से ऐसा ही अ-द्वयत्व

संबंध दिखाई देता है। महाभारत के श्रीकृष्णार्जुन ही के समान ये दोनों स्वयंभू थे, फिर भी दोनों एक दूसरे के साथ समरस होकर स्वधर्म की रक्षा के लिए स्वराज्य की स्थापना का महनीय कार्य करने में व्यग्र थे। इस शिवसमर्थ योग का अर्थ है क्षात्रतेज और ब्राह्मतेज का अद्भुत संगम। यही महाराष्ट्र धर्म का प्राण रहा और इसी से समाज का सही अर्थ में परित्राण भी हुआ।

### अद्वितीय धर्माचार्य

जब हम समर्थगुरु रामदास के अनोखे व्यक्तित्व के बहुविध आयामों का अनुशीलन करने लगते हैं तब इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि उनको इधर के संत महात्माओं के निर्धारित साँचे में नहीं ढाला जा सकता। इसका यही कारण है कि रामदास के व्यक्तित्व में जो विविध प्रकार के गुण समाए हुए हैं उस प्रकार के गुण अन्य महात्माओं में शायद ही दिखाई देते हों। अन्य किसी भी संत-सत्पुरुष द्वारा प्रतिपादित विचार या उपदेश रामदास के उपदेश में भी आसानी से खोजा जा सकता है। फिर रामदास के साहित्य में ऐसा भी बहुत कुछ पाया जाता है जो अन्य संतों ने कहीं भी नहीं कहा है। केवल पारमार्थिक उपदेश के अतिरिक्त भी व्यक्ति तथा समाज के हित की दृष्टि से रामदास ने बड़े पैमाने पर व्यावहारिक उपदेश भी किया है। इसलिए यदि कोई उन्हें राजनीतिक संत कहता हो तो वह उनका दूषण नहीं बल्कि भूषण ही समझा जाना चाहिए। उनको दूषण देने वाले विद्वानों की अ-परिपक्वता ही ऐसे मतों में झलकती है।

धर्म की संकल्पना मात्र परमार्थ तक ही सीमित नहीं है । शास्त्रकारों ने धर्म के दो अंग माने हैं - एक है अभ्युदय अर्थात् ऐहिक उन्नति तथा निःश्रेयस अर्थात् पारमार्थिक सद्गति । इसलिए सच्चे, परिपूर्ण धर्माचार्य से धर्म के इन दोनों अंगों से संबंधित मार्गदर्शन अपेक्षित है । भगवान वेदव्यास, देवर्षि नारद, महर्षि वसिष्ठ एवं विश्वामित्र, अगस्त्यमुनि आदि महानुभावों की नामावली यह सूचित करती है कि ये महापुरुष मानवजीवन से संबंधित उपर्युक्त दोनों ही अंगों के न केवल ज्ञाता ही थे अपितु मानव की सुखशांति के लिए राजकीय सत्ता भी सुयोग्य व्यक्ति के हाथ में ही रहे इस लिए सक्रिय प्रयत्न करने में भी लगे हुए थे । राजनीति समाजजीवन को अत्यधिक मात्रा में प्रभावित करती है । इसी लिए महाभारतकार ने कहा है - **‘सर्वे धर्माः राजधर्मप्रधानाः ।’** तथा **‘राजा कालस्य कारणम् ।’** संत ज्ञानेश्वर ने तो धर्मसंस्थापना का अर्थ ही यह बताया है कि राजनीति के साथ धर्म की संलग्नता ही धर्मसंस्थापना है । ऐसा दिखाई देता है कि उपर्युक्त सभी महापुरुषों ने इस दिशा में सतत प्रयत्न किए हैं । समर्थगुरु रामदास ने भी यही किया इसी लिए उनको भी उक्त महापुरुषों की पंक्ति में खड़ा रहने का अधिकार है और इस दृष्टि से वे अभिनंदनीय भी हैं । सज्जन तथा गढ़ जैसे दो शब्दों को सर्वप्रथम एकत्रित लाने का श्रेय यद्यपि रामदास को दिया जा सकता है तथापि हमारे प्राचीन ऋषिमुनियों की यही धारणा रही कि इन दोनों के साहचर्य में ही समाज का उत्कर्ष समया हुआ है । समर्थगुरु रामदास को राजनीतिक संत कहकर उनका उपहास करने के बजाय उनके उत्तुंग व्यक्तित्व को नापने-जोखने

के लिए जो मापदंड हम अपनाते हैं वह अधूरा है इस बात को ध्यान में लेते हुए जो यह जान लेगा कि अपनी दृष्टि को अधिक प्रगल्भ बनाना चाहिए वही वास्तव में विद्वान माना जाएगा । पूर्वग्रहदूषित संकीर्ण मानसिक ढाँचे में उक्त प्रभंजन को टूटने का प्रयास विवेक से काम लेने वाले लेखकों को शोभा नहीं देता ।

इस बात पर विचार करना भी आवश्यक है कि समर्थगुरु रामदास ने ‘राजकारण’ (राजनीति) शब्द का प्रयोग किस अर्थ एवं संदर्भ में किया है । उक्त शब्द के जो अर्थ खुद को अभिप्रेत हैं उनको रामदास के सर पर थोपना कहाँ तक तर्कसंगत हो सकता है? रामदास ने जिन विविध प्रकार के संदर्भों में और जिस आशय को व्यक्त करने के लिए उक्त शब्द का प्रयोग किया है उस आशय की गहराई तक पहुँचने पर यह विदित होगा कि आधुनिक पॉलिटिक्स अर्थात् सत्ताकारण अथवा चातुर्य जैसे शब्दों से परे जाना पड़ेगा । दासबोध का ग्यारहवाँ दशक मूलतः व्यक्तित्व के विकास पर प्रकाश डालता है । उसमें प्रयुक्त ‘राजकारण’ शब्द लोकव्यवस्थापकीय संगठन-कौशल (Managerial Team Organsing Skill) का अर्थ सूचित करता है और इसी को ग्राह्य मानना समीचीन होगा । रामदास की यह खासीयत रही कि उन्होंने कुशल प्रबंध को अत्यधिक महत्त्व दिया है । उक्त अर्थ की दृष्टि से रामदास द्वारा प्रयुक्त ‘राजकारण’ शब्द पर विचार किया जाए तो हम इस निष्कर्ष तक पहुँच जाते हैं कि जिस प्रकार जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों से संबंधित ‘कुशल प्रबंध’ के अर्थ को वह सूचित करता है उसी प्रकार राजनीति से



संबंधित कुशल व्यवस्थापन का अर्थ भी वह सूचित करता है । फिर भी वह वहीं तक सीमित नहीं माना जा सकता ।

लोकव्यवस्थापन को किसी संस्थान या संगठन का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है । इसी लिए रामदास ने अपने ग्रंथ की चतुःसूत्री में तीसरे स्थान पर सभी प्रकार के विषयों से संबंधित सावधानता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । उन्हीं के शब्दों का प्रयोग करता हो तो - **‘तिसरे ते सावधपण । सर्व विषयीं ।।’**

सावधानता तो धर्म का मर्म ही माना गया है । महाभारत में यक्ष धर्मराज से प्रश्न करता है - ‘धर्मराज, एक शब्द में बताओ कि धर्म का स्वरूप क्या है? (किंस्विदेकपदं धर्म्यम्?)’ इसका उत्तर देते हुए धर्मराज ने कहा ‘दक्षता’ ‘दक्षता अर्थात् सावधानता ही धर्म का असली स्वरूप है ।’ (दाक्ष्यम् एकपदं धर्म्यम् ।) इस प्रकार धर्म की दृष्टि से सावधानता का असाधारण महत्त्व माना गया है । सच कहा जाए तो रामदास ने धर्मकारण पर ही सर्वाधिक बल दिया है । उनकी प्रसिद्ध चतुःसूत्री में हरिकथा-निरूपण, राजकारण (राजनीति), सावधपण (सावधानता) तथा स्वकर्म को चरितार्थ करने के लिए उद्यमशीलता (साक्षेप) ये चारों वस्तुतः सही धर्मपालन के ही अंग हैं । धर्मसंबंधी समर्थगुरु रामदास का किया हुआ मार्गदर्शन एवं विवेचन केवल महाभारत में ही देखने को मिलता है, अन्यत्र नहीं ।

रामदास ने अंधश्रद्धा, आलस्य तथा अनुशासनहीनता पर प्रहार किए हैं । उनकी विचारप्रणाली में दैववाद या भाग्यवाद को ज़रा भी स्थान नहीं दिया गया है । इसके विपरीत रामदास

उत्कट प्रयत्नवाद के कट्टर समर्थक हैं । पारमार्थिक परंपरा की लकीर का फ़कीर बनकर उन्होंने अपने साहित्य में कहीं भी नारीनिंदा नहीं की है । नारीशरीर की निंदा करने वाला एक भी शब्द समर्थगुरु रामदास के समग्र साहित्य में ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा । उनका स्त्रियों के उद्धार का कार्य प्रशंसनीय है । उन्होंने महिलाओं को न केवल प्रबुद्ध ज्ञानी ही बनाया अपितु अपने शिष्यों को अनुग्रह देने का अधिकार भी प्रदान किया । इतना ही नहीं तो उन्होंने कई सुयोग्य महिलाओं को मठाधिपति भी बनाया है, जैसे आक्कास्वामी या वेणास्वामी । आज से लगभग साढ़े तीन सौ साल पहले परंपरा और रुढ़ियों में फँसे हुए समाज में उन्होंने अपनी सत्शिष्या वेणाबाई को खड़े रहकर कीर्तन करने का अधिकार भी दिया था । रामदास ने धर्मशास्त्र, भक्तिशास्त्र, योगशास्त्र के साथ ही साथ समाजशास्त्र, व्यवहारशास्त्र, व्यवस्थापन - संगठनशास्त्र, राज-नीतिशास्त्र आदि कई लौकिक विद्याओं का उपदेश देते हुए समाजजीवन को प्रगल्भ बनाया । बौद्ध, शंकराचार्य तथा महानुभाव पंथ के प्रवर्तकों को यदि छोड़ दिया जाए तो उनके बाद रामदास ही ऐसे लोकनायक हुए जिन्होंने अपने विचारों के प्रचार के लिए सुनिश्चित योजना तैयार की और उसे सफलतापूर्वक कार्यान्वित भी किया ।

महर्षि वेदव्यास ने विपुल मात्रा में लेखन किया है किंतु उनको अच्छे व्यक्ति तैयार करने का काम नहीं करना पड़ा । देवर्षि नारद ने सर्वत्र घूम घूमकर लोकजागृति का काम किया किंतु वे विपुल मात्रा में लेखन नहीं कर सके । शंकराचार्य ने धर्म

की पुनःस्थापना की लेकिन उन्हें राजनीति की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं महसूस हुई। आर्य चाणक्य ने राजनीति की ओर ही अपना ध्यान केंद्रित किया, अर्थशास्त्र जैसा उत्कृष्ट ग्रंथ भी लिखा किंतु आध्यात्मिक मार्गदर्शन की अपेक्षा उनसे शायद ही की जा सकती है। पारतंत्र्य के दिनों में भी स्वामी विवेकानंद ने राजधर्म से संबंधित विचारों का प्रतिपादन नहीं किया। योगीराज अरविंद ने खुद योगाभ्यास किया, प्रचुर मात्रा में लेखन भी किया फिर भी रामदास के समान देश में सर्वत्र संचार उनके जीवनकार्य का अंग नहीं बन सका। मुझे तो भारतवर्ष के इतिहास में समर्थगुरु रामदास जैसा दूसरा कोई महापुरुष नहीं दिखाई देता। यदि कोई सप्रमाण ऐसा महापुरुष मुझे दिखाएगा तो उसे स्वीकारने में मुझे शायद ही आपत्ति होगी।

महाराष्ट्र के भागवत मंदिर की नींव संतसम्राट श्री ज्ञानेश्वर ने डाली, संत तुकाराम ने इस भागवत धर्म के मंदिर का शिखर बनने का गौरव हासिल किया, तो समर्थगुरु रामदास स्वामी उक्त मंदिर पर फहरने वाला प्रेरणादायी ध्वज बन गए। इसे वारकरी संप्रदाय की शब्दावली में कहना हो तो 'तुका झालासे कळस। ध्वज होई रामदास।' एकरस, अभंग, भव्य भागवत धर्म मंदिर महाराष्ट्र संस्कृति का प्राण तथा वैदिक संस्कृति की शान है।

### ग्रंथराज दासबोध

एक ओर समर्थगुरु रामदास कई प्रकार के धर्मकार्यों में रत थे तो दूसरी ओर वे विपुल लेखन-कार्य में भी जुटे हुए थे। उनकी

इस विपुल ग्रंथसंपदा में दासबोध, मनोबोध (मनाचे श्लोक), रामायण, आत्मा-राम, करुणाष्टक, पुराना दासबोध (एकवीस समासी), स्फुट प्रकरण, स्फुट श्लोक, अष्टाक्षरी पाँच लघुकाव्य, चौदह ओवीशत, स्फुट ओव्या (ओवी महाराष्ट्र का अत्यंत सरल एवं लोकप्रिय छंद है।) अवांतर तथा प्रासंगिक प्रकरण, विविध प्रकार की आरतियाँ, सवाया, अभंग, पद, ललित काव्य, मानसपूजा आदि का अंतर्भाव है। उनकी इतनी विपुल साहित्य संपदा में दासबोध ही रामदास का प्रमुख ग्रंथ माना जाता है। उसका महत्त्व भी वैसा ही अनन्यसाधारण है। कहा जाता है कि रामदास यह ग्रंथ मौखिक रूप में कहते रहते और उनके शिष्योत्तम श्री कल्याणस्वामी उसे लिपिबद्ध करते जाते थे। तात्पर्य यह कि उक्त ग्रंथ एक ही समय में अबाध गति से लिखा गया ग्रंथ नहीं है। जैसे जैसे समय उपलब्ध होता था, रामदास उसका मौखिक प्रतिपादन करते थे और कल्याणस्वामी उसे लेखन का रूप देते थे। इसी लिए उसको कई बार संपादित भी किया गया है। कई वर्षों के परिश्रम के परिणामस्वरूप आज के रूप में यह ग्रंथ उपलब्ध हुआ है। इस ग्रंथ में कुल बीस दशक हैं (दस समासों का एक संच), हर दशक में दस समास (प्रकरण) हैं। तात्पर्य यह कि यह कुल-मिलाकर दो सौ समासों का ग्रंथराज है।

उस समय प्रचलित साहित्यपरंपरा के अनुसार दासबोध ग्रंथ मराठी के सुप्रसिद्ध 'ओवी' नामक गेय छंद में लिखा गया है तो भी उसे काव्यग्रंथ नहीं का जा सकता। यदि उस समय गद्य लिखने का प्रचलन होता तो रामदास एक समाचारपत्र ही चलाते

और उसमें अग्रलेख के स्थान पर अपना एक एक समास लिखते जाते। मेरी दृष्टि में ये समास रामदास के विविध विषयों पर ओघवती पद्यमय भाषा में लिखे हुए निबंध ही हैं। इस ग्रंथ में समर्थगुरु रामदास ने चतुर्दश ब्रह्म, विमल ब्रह्म, माया, शुद्ध ज्ञान, सृष्टिविचार, द्वैतकल्पना-निरसन, त्रिविध ताप, सत्त्व, रज, तमोगुण विचार, नवधा भक्ति, वैराग्य, गुरुलक्षण, शिष्यलक्षण, विरक्त-लक्षण, मूर्खलक्षण, पढत-मूर्खलक्षण, चातुर्यलक्षण, बद्ध, मुमुक्षु, साधक, सिद्ध लक्षण, प्रकृतिपुरुष विचार, चत्वार देवनिरूपण, विवेकनिरूपण, महंत- लक्षण, राजकारण (राजनीति), निःस्पृहता, कथा-कीर्तन, उपासना, आत्माराम, उत्तम पुरुष, जनस्वभाव, बुद्धिवाद, प्रयत्नवाद, लेखनकला आदि पारमार्थिक एवं ऐहिक विषयों का गहराई में जाकर ऊहापोह किया है। यदि दार्शनिक दृष्टि से देखा जाए तो जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य, संतसम्राट श्री ज्ञानेश्वर, भागवतधर्मीय अन्य सभी संतों तथा श्री समर्थगुरु रामदास का दार्शनिक निरूपण अद्वैतपरक ही है। उनके प्रस्तुतीकरण में भले ही भिन्नता परिलक्षित होती हो, ब्यौरे के अंतर को यदि छोड़ दिया जाए तो इन सभी संतों के प्रतिपादन में सैद्धांतिक एकरूपता ही पाई जाती है। ऊपर दासबोध में प्रतिपादित विषयों की जो सूचि दे दी गई है उससे यह विदित होता है कि 'दासबोध' में अद्वैत दर्शन तथा भक्तिमार्ग से अनुप्राणित साधना-पद्धति के अतिरिक्त जीवन से संबंधित अन्यान्य विषयों का अंतर्भाव किया गया है। यह कहना समीचीन ही होगा कि उक्त ग्रंथ में व्यावहारिक जीवन की पहली सीढ़ी से लेकर परमार्थ

की अंतिम स्थिति तक जीवन से संबंधित प्रायः सभी बातों को स्थान दिया गया है। सुधी जनों का भी यही मत है कि समर्थगुरु रामदास ने जीवन तथा परमार्थ से संबंधित जितने विविध विषयों पर लेखन किया है उतना विविधता से भरा लेखन महर्षि वेदव्यास को छोड़ अन्य किसी भी महानुभाव ने शायद ही किया हो।

रामदास ने ही 'दासबोध' के प्रारंभ में ऐसा कहा है - 'येथे बोलिला विशद। भक्तिमार्ग' अर्थात् इस ग्रंथ में भक्तिमार्ग का निरूपण विस्तार से किया गया है। अतः यह निर्विवाद स्पष्ट ही है कि उक्त ग्रंथ वा मुख्य प्रतिपाद्य विषय भगवद्भक्ति ही है। समर्थगुरु रामदास का स्थायी भाव दास्यभक्ति है। अतः दासबोध शब्द का यही अर्थ है कि प्रभु रामचंद्र के दास के द्वारा अपने शिष्यों को किया हुआ बोध अर्थात् उपदेश। फिर भी इसका एक अन्य अर्थ भी लगाया जा सकता है और वह है प्रभु रामचंद्र का दास्य करने वाले रामभक्तों को किया गया उपदेश। उक्त ग्रंथ में और रामदासी संप्रदाय में प्रतिपादित भक्ति शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन पर आधारित है। साथ ही श्रीमद् भागवत में वर्णित भक्तिप्रक्रियाओं से भी वह अलंकृत है। रामदास द्वारा निरूपित भक्तिमार्ग न केवल सांसारिक जीवन का अविरोधी ही है अपितु घरगृहस्थी सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के बारे में आग्रही भी है। 'दासबोध' ग्रंथ में जहाँ इस बात का मार्गदर्शन किया गया है कि उत्कट भक्ति के द्वारा परमार्थ की प्राप्ति कैसे की जा सकती है, वहाँ इसमें दक्षतापूर्वक घरगृहस्थी को कैसे सफल बनाया जा सकता है, इसका भी समुचित मार्गदर्शन किया गया है। दोनों

के लिए आवश्यक मार्गदर्शक सूत्र इस ग्रंथ में प्रतिपादित किए गए हैं। चाहे घरगृहस्थी को सफल बनाना हो या चाहे पारमार्थिक उन्नति करनी हो, दोनों क्षेत्रों में रामदास प्रयत्नवाद के कट्टर समर्थक एवं दैववाद का खंडन करने वाले हैं। 'यत्न तो देव जानावा' (प्रयत्न को ही परमात्मा समझना चाहिए) का आग्रह के साथ प्रतिपादन करते हुए प्रयत्नवाद को उन्होंने परमात्मा के अत्युच्च स्तर पर पहुँचाया और 'अचूक यत्न करावा' (अचूक यत्न करें) कहकर प्रयत्नवाद का मर्म ही रेखांकित किया है। समर्थगुरु रामदास की विचारप्रणाली में विवेक तथा वैराग्य का स्थान अनन्यसाधारण है। ये दोनों शब्द रामदास के अत्यंत प्रिय शब्द हैं। साथ ही इस ग्रंथ में प्रतिपादित प्रयत्न, प्रचीती (प्रतीति) तथा प्रबोध की त्रिसूत्री मानवजीवन के विज्ञान को साकार करती है।

## राष्ट्रगुरु

जब हम समर्थगुरु रामदास के जीवन एवं कृतित्व पर कुल मिलाकर गहराई से विचार करते हैं तब उनके आकाश जितने व्यापक तथा हिमालय जैसे दृढ़ एवं उत्तुंग सुदृढ़ व्यक्तित्व का यथार्थ ज्ञान करा देने वाला एक ही विशेषण उनके नाम के पीछे हम जोड़ सकते हैं और वह है 'राष्ट्रगुरु'। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी विशेषण उनके महान व्यक्तित्व को सूचित नहीं कर सकता। परमात्मा के प्रति उत्कट भक्ति, ईश्वरीय साक्षात्कार की अनुभूति तथा जीव मात्र के बारे में प्रेममय करुणा जैसे संतलक्षण उनके व्यक्तित्व में पूरी तरह दृग्गोचर होते हैं और इसी लिए वे संत तो हैं ही। साथ

ही अन्य किसी भी संत ने जो कार्य किया है और जो उपदेश किया है वह भी उनके जीवनकार्य में परिलक्षित होता है। फिर भी इससे भी कहीं अधिक विशेषताएँ उनके व्यक्तित्व में पाई जाती हैं। अतः उनके नाम के पीछे मात्र 'संत' विशेषण जोड़ने से उनके महान व्यक्तित्व का आकलन नहीं हो सकता।

कुछ विद्वानों ने उनको 'राजगुरु' कहा है। हम यदि इतिहास का गंभीरता से अवलोकन करें तो महर्षि वसिष्ठ जैसे सर्वश्रेष्ठ राजगुरु का कार्य भी राजा का मार्गदर्शन करने तक ही सीमित दिखाई देता है। ऐसा नहीं दिखाई देता कि राज्य के सभी स्तरों से संबंधित आम आदमी से उनका प्रत्यक्ष संपर्क रहा हो। फिर सामान्य जनो में घुल-मिलकर उनका एक मज़बूत संगठन खड़ा करने की बात तो बहुत दूर ही रही। अतः रामदास के संदर्भ में 'राजगुरु' विशेषण भी अधूरा ही प्रतीत होता है। और एक लक्षणीय बात यह भी है कि राजगुरु का संबंध किसी विशिष्ट राजकुल तथा उसकी कुछ ही पीढ़ियों तक ही सीमित रहता है।

श्रीसमर्थ गुरु रामदास ने समाज के लिए जो कार्य एवं मार्गदर्शन किया है वह स्थल-काल की सीमाओं को लांघकर अग्रसर हुआ है। श्री छत्रपति शिवाजी राजा के स्वराज्यनिर्मिति के कार्य के लिए अनुकूल महाराष्ट्र धर्म को उन्होंने जागृत किया। इसके साथ ही सक्रिय भक्ति की अग्नि प्रज्ज्वलित करके बड़े आत्मविश्वास के साथ ऐसे जागृत समाज का निर्माण किया जो स्वधर्म तथा स्वदेश की रक्षा करने में तत्पर हो। यही कारण है कि स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने मैजिनी को इटली का रामदास और रामदास को महाराष्ट्र का

मैजिनी कहा है, जो सभी दृष्टियों से बहुत ही औचित्यपूर्ण है। फिर भी इससे भी आगे बढ़कर यह कहना चाहिए कि किसी भी राष्ट्र का यदि नवनिर्माण करना हो तो उस राष्ट्र से संबंधित सामान्य जनों, सभी संस्थाओं, विविध स्तरों पर स्थित नेताओं तथा राजा एवं राजगुरु के लिए भी जो ऐहिक एवं पारमार्थिक मार्गदर्शन अभिप्रेत है वह सब कुछ समर्थगुरु रामदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में उपलब्ध होगा इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। भारतवर्ष के इतिहास के अन्य किसी भी महापुरुष के जीवनकार्य में वह शायद ही परिलक्षित होता है। अतः ऐसे लोग सचमुच भाग्यवान माने जाएँगे जिन्होंने रामदास जैसे राष्ट्रगुरु का मार्गदर्शन प्राप्त करते हुए अपने तथा समाज के जीवन को धन्य बना दिया। समर्थगुरु जैसे महान लोकनायक का स्मरण करते हुए निम्नलिखित पंक्तियों का सहारा लेने को जी चाहता है-

“तव स्मरण संतत स्फुरणदायि आम्हा घडो  
त्वदीय गुणकीर्तन-ध्वनि सदैव कानीं पडो।  
स्वधर्महितचिंतनाविण दुजी कथा नावडो  
तुझ्यासमचि आमुची तनुहि देवकार्यीं पडो ॥”

(तुम्हारा स्मरण हमारे लिए सदैव स्फूर्ति देता रहे। तुम्हारा गुण-गान हमारे कान सतत सुनते रहें। स्वधर्महित के चिंतन के सिवा हमें अन्य कोई भी बात न भाए। तुम्हारे समान ही हमारी देह देवकार्य को समर्पित हो।)

